

भारतीय मीडिया का विद्रूप चेहरा

- डॉ. मुकेश कुमार

आज जब हम पत्र-पत्रिकाओं और टीवी चैनलों को देखते हैं तो लगता है कि सांप्रदायिक मुद्दों या घटनाओं के कवरेज के लिए वे किन्हीं दिशा निर्देशों से परिचित नहीं हैं या परिचित हैं तो उनका पालन करना ज़रूरी नहीं समझते। वे ऐसे मुद्दों और खबरों को उछालने या बढ़ा-चढ़ाकर दिखाने से किसी तरह का परहेज नहीं करते, जिनसे समाज में घृणा, टकराव और हिंसा फैलती हो। हम ये भी देख ही रहे हैं कि किस तरह वे एक सांप्रदायिक एजेंडे को प्रचारित-प्रसारित करके राजनीतिक-सामाजिक ध्रुवीकरण को आकार दे रहे हैं। अक्सर वे किसी दल या किसी नेता के सांप्रदायिक कृत्यों या बयानों को महिमामंडित करते हुए भी नज़र आते हैं। ये स्पष्ट दिखाई देता है कि मुसलमान और पाकिस्तान लगातार उनके निशाने पर रहते हैं और इसके पीछे सांप्रदायिक नज़रिया ही काम कर रहा होता है। राष्ट्रवाद का मुखौटा लगाकर मीडिया का एक बड़ा हिस्सा घृणित सांप्रदायिक खेल में शामिल है जो कि न तो जनता के हित में है और न ही देश के।

विडंबना ये है कि उसे कोई रोकने-टोकने वाला नहीं है। ऐसा प्रतीत होता है मानो अधिकांश मीडिया संस्थानों का प्रबंधन ही पत्रकारों को इस तरह की पत्रकारिता के लिए प्रोत्साहित कर रहा हो। इसके कारण भी आसानी से समझ में आने वाले हैं। इस संपादकीय नीति से वे दल और नेता तो खुश होते ही हैं जिनकी राजनीति सांप्रदायिक एजेंडे पर आधारित है, मगर बाज़ार भी खूब सधता है। जब बहुसंख्यक समाज का बड़ा तबका सांप्रदायिकता की आग में तप रहा हो तो मुनाफ़े की रोटियाँ भी उस पर मज़े से सेंकी जा सकती हैं। इस तरह के मुद्दों से मीडिया उत्पादों की पाठक-दर्शक-श्रोता संख्या में तीव्र गति से वृद्धि होती है, जो कि विज्ञापनों की शक्ति में भुनाई जा सकती है, बल्कि भुनाई जा रही है।

ये भी एक कड़वी सचाई है कि हमारा मीडिया पूर्वाग्रहों और दुराग्रहों से ग्रस्त है, जो सांप्रदायिक विवादों के उठने पर बहुत ही नग्नता से प्रस्तुत होते हैं। ये आग्रह सांप्रदायिकता को और भी खाद-पानी देते हैं। मीडिया में विभिन्न धर्मों, वर्गों और जातियों का प्रतिनिध्व बेहद एकतरफ़ा है। उसमें आदिवासी दलित तो न के बराबर हैं जबकि स्त्री, पिछड़े और अल्पसंख्यक जनसंख्या के अनुपात से बहुत कम हैं। ऐसे में मीडिया का किसी एक तरफ झुक जाना कतई अस्वाभाविक नहीं है। ज़ाहिर है कि मीडिया में काम करने वालों के आग्रह सांप्रदायिकता को जमकर खाद-पानी देते हैं और उसकी संरचना में सामाजिक असंतुलन होने की वजह से उस पर अंकुश लगने की गुंजाइश भी नहीं बचती।

अगर हम पिछले दो-तीन दशकों में हुए सांप्रदायिक दंगों में मीडिया की भूमिका का अध्ययन करें तो ये बात और भी साफ़ हो जाती है। भारतीय प्रेस परिषद ने बाबरी मस्जिद को गिराए जाने की घटना के दौरान पत्र-पत्रिकाओं की भूमिका कैसी रही, इसकी जाँच करवाई थी। इसमें पाया गया था कि कुछ अखबारों ने जिसमें दैनिक जागरण जैसा बड़ा अखबार भी शामिल था, धर्मोन्माद और हिंसा भड़काने वाली सामग्री प्रकाशित की थी। इसी तरह गुजरात दंगों में मीडिया की भूमिका की जाँच के निष्कर्ष भी कमोबेश इसी तरह के रहे थे। गुजरात दंगों के दौरान वहाँ के भाषाई अखबारों की भूमिका भी सांप्रदायिक रंग में रंगी हुई थी। प्रेस परिषद की जांच समिति ने दो गुजराती अखबारों को तो चिन्हित भी किया था। कुल मिलाकर सांप्रदायिक हिंसा के अधिकांश मामले यही साबित करते हैं कि मीडिया की भूमिका नकारात्मक रहती है।

फिर भी हमें ये नहीं भूलना चाहिए कि राजनीति और बाज़ार के दबावों एवं प्रलोभनों के बावजूद पत्रकारिता के कुछ दायित्व भी हैं, जिन्हें हर हाल में पूरा किया जाना चाहिए। किसी भी लोकतंत्र में सामाजिक जिम्मेदारी निभाने से जुड़ी जो अपेक्षा उससे की जाती है दरअसल वही उसकी साख और विश्वसनीयता का स्रोत भी है। अगर वह इनसे हटता है तो समाज उससे अपेक्षा करना बंद कर देता है और ज़ाहिर है कि ऐसे में उसकी शक्ति का क्षरण

भी हो जाता है। यही वजह है कि मीडिया ने खुद अपने लिए कुछ नियम-कानून बनाए हैं, जिन्हें आचार संहिता भी कहते हैं। सत्ता प्रतिष्ठान की ओर से बनाए गए संस्थानों ने भी आचार संहिता का निर्धारण किया है। अधिकांश लोकतांत्रिक देशों में सरकार द्वारा किसी तरह की आचार संहिता मीडिया पर थोपी नहीं गई है, वह आत्म नियमन का ही हिस्सा है।

भारत में इस दिशा में भारतीय प्रेस परिषद् ही प्रेस की आचार संहिता को लेकर सक्रिय रही है। सन् 2010 में उसने एक समग्र आचार संहिता जारी की थी। इस संहिता में ऐसी सामग्री के प्रकाशन के संबंध में दिशा निर्देशों का भी बिंदुवार उल्लेख है जिनसे सांप्रदायिकता को बढ़ावा मिल सकता है। हालाँकि इसके पहले जनवरी, 1993 में बाबरी मस्जिद को गिराए जाने के बाद भी उसकी ओर से कुछ दिशा-निर्देश जारी किए गए थे। नई और संशोधित आचार संहिता में कमोबेश उन्हीं दस दिशा-निर्देशों को शामिल किया गया है। यहां ये ध्यान रहे कि प्रेस परिषद का गठन चूँकि प्रिंट मीडिया की सामग्री को अनुशासित करने के लिए किया गया था इसलिए दूसरे माध्यम इसके दायरे में नहीं आते। अलबत्ता, उसकी आचार संहिता बाकी के लिए भी उतनी ही उपयोगी और जरूरी है। रेडियो, टीवी और डिजिटल मीडिया के पत्रकार भी उसे अपना आधार बना सकते हैं।

सांप्रदायिक पत्रकारिता के इस दौर में पत्रकारों को ये दस सूत्री आचार संहिता फिर से पढ़ना चाहिए और उसे लागू करने की दिशा में ठोस कदम उठाने चाहिए। खास तौर पर उन पत्रकारों और एंकरों को जो मीडिया की मर्यादाओं एवं दायित्वों से परिचित नहीं हैं और बिना सोचे-समझे लिखते-बोलते हैं। मीडिया संस्थानों और पत्रकार संगठनों को उन्हें इसके लिए प्रशिक्षित किया जाना चाहिए। देश में सामाजिक वातावरण बिगाड़ने में उनका बहुत बड़ा योगदान है। अगर वे इन नियमों का पालन करने लगे तो काफी हद तक स्थिति बदल सकती है।

इन दस सूत्रों को यथावत् प्रस्तुत करना तो यहाँ संभव नहीं है अलबत्ता उसकी मुख्य बातों का उल्लेख करना भी जरूरी है। इसमें मूलभूत तत्व है संयम। कहा गया है कि पत्रकार अपुष्ट खबरों, अफवाहों आदि को जगह न दें और अतिशयोक्ति से बचें। अगर मीडिया इतना सा ही काम करने लगे तो काफी सुधार आ सकता है। दूसरे, मीडियाकर्मियों को अपने सामाजिक-धार्मिक दुराग्रहों, पूर्वाग्रहों को थोपना नहीं चाहिए। बिना किसी ठोस आधार के किसी एक पक्ष को कठघरे में खड़ा करना, बदनाम करना या कसूरवार ठहराने का काम तो हरगिज़ नहीं करना चाहिए। उन्हें किसी समुदाय पर झूठे या फूहड़ प्रहार नहीं करना चाहिए और अगर किसी समुदाय की जायज़ माँगों या शिकायतों को उठाना भी है तो संयमित ढंग से ऐसा करना चाहिए। उन्हें किसी भी मसले को सांप्रदायिक रंगत देने से बाज़ आना चाहिए। सनसनी या भयोत्पादक समाचार प्रकाशित-प्रसारित करने और किसी भी धर्म के मतों और प्रवर्तकों पर अपमानजनक टिप्पणी नहीं करनी चाहिए।

आचार संहिता के उपरोक्त अंश देखने में बहुत ही सामान्य लगते हैं, मगर उन पर अमल करना और करवाना एक बड़ी चुनौती है। खास तौर पर तब जब मीडिया संस्थान एक दूसरे से प्रतिस्पर्धा में उलझे हों। जाहिर है इसके लिए इच्छाशक्ति की जरूरत है और अगर संपादकीय नेतृत्व और प्रबंधन चाहे तो इन दिशा निर्देशों को आसानी से लागू करवा सकता है। द हिंदू और एनडीटीवी जैसे कई मीडिया संस्थान ऐसा कर भी रहे हैं।

ये वास्तव में बहुत दुर्भाग्य की बात ये है कि मीडिया लोकतंत्र और देश हित में इस महत्वपूर्ण जिम्मेदारी का निर्वाह नहीं कर पा रहा है। यही वजह है कि आत्म नियमन की अवधारणा ही ध्वस्त हो गई है और कड़े नियमन की माँग की जा रही है। दुर्भाग्य से अगर ये नियमन सरकार के हाथों में चला गया तो मीडिया की बची-खुची स्वतंत्रता भी बच नहीं पाएगी।

(लेखक वरिष्ठ पत्रकार हैं। वर्तमान में वे माखनलाल चतुर्वेदी राष्ट्रीय पत्रकारिता एवं संचार विश्वविद्यालय में प्रोफेसर हैं।

प्रस्तुति: मनुज फीचर सर्विस)

नोट: मनुज फीचर सर्विस में छपे लेखों के विचार लेखक के अपने हैं। माखनलाल चतुर्वेदी राष्ट्रीय पत्रकारिता एवं संचार विश्वविद्यालय का इनसे सहमत होना आवश्यक नहीं है। यहां प्रकाशित सामग्री का उपयोग गैर व्यावसायिक कार्यों के लिए करने हेतु किसी अनुमति की आवश्यकता नहीं है। मनुज फीचर सर्विस का उल्लेख अवश्य करें।